

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

सहकार-परमार्थ प्रकरण

अन्योऽद्य दिवसः सोऽयं सत्समागमसत्रजः ।
नैमिषे दूरदेशेभ्यः संगतास्ते मनीषिणः ॥ १ ॥
मुनयः सर्व एवैत औदास्यमभजन्निह ।
विचारयन्तः सत्रस्य श्वोऽवसानं तु दुःसहम् ॥ २ ॥
दायित्वानि ग्रहीतुं च स्वानि गंतव्यमेव तैः ।
स्वस्वक्षेत्रेषु भूलोके विधातुं स्वर्गिणां गृहम् ॥ ३ ॥
उषित्वा सह सर्वैस्तु दिवसेष्वेषु सप्तसु ।
लब्धो यः परमानन्दः प्राप्तं पीयूषमुत्तमम् ॥ ४ ॥
संयोगस्तादृशः कुत्र प्राप्स्यतेऽस्माभिरुत्तमः ।
नैव जानीम इत्येतत्कारणं तस्य मुख्यतः ॥ ५ ॥
आयोजनस्य हेतोश्च सर्वे याताः प्रसन्नताम् ।
पदयात्रा विशालास्ताः कुर्वन्तः कष्टदा अपि ॥ ६ ॥
मार्गेषु विविधेष्वेव स्थानेष्वेभिः स्थितेस्तथा ।
जनसंपर्ककार्यस्य समस्यानां समाहितेः ॥ ७ ॥
धर्मचैतन्यगा वातावृतेरपि विनिर्मितेः ।
लाभः प्राप्तो ह्यनेकानां पुण्यानामपि तैरिह ॥ ८ ॥
श्रेयोऽस्य ददति स्म ते सर्वमायोजनस्य तु ।
व्यवस्थापकवर्गेभ्यः संतुष्टाः पूर्णतः समे ॥ ९ ॥
निवर्तनस्य कालेऽथ भिन्नैः पथिभिरेव च ।
यातुं क्षेत्रेषु भिन्नेषु धर्मश्रद्धाकरा अपि ॥ १० ॥
कार्यक्रमा मतौ तेषामुद्भवन्ति स्म संततम् ।
कर्मठत्वकषणवत्-तुल्या लोकहिताऽऽवहाः ॥ ११ ॥
प्रारब्धो नियते काले दिनस्याऽस्य पुरोगमः ।
प्रश्नानां शृङ्खलायाश्च सोपानं चरमं त्विदम् ॥ १२ ॥
जिज्ञासूनां वरिष्ठश्च सोऽनुरोधं व्यधात्स्वयम् ।
अध्यक्षं चरमं युग्मं वक्तुं धर्मधृतेः शुभम् ॥ १३ ॥
टीका—आज संत-समागम सत्र का अंतिम दिन था ।
नैमिषारण्य में एकत्रित दूर-दूर से आए हुए मुनि-मनीषी यह
सोचकर उदास थे कि कल यह समारोह समाप्त हो जाएगा ।
उन्हें अपने-अपने क्षेत्रीय उत्तरदायित्व सँभालने के लिए तथा
पृथ्वी को देवताओं का स्वर्ग बनाने के लिए जाना पड़ेगा ।

साथ-साथ रहकर इन सात दिनों में जो आनंद उठाया, अमृत
कमाया वैसा सुयोग फिर न जाने कब कहाँ मिलेगा ? उदासी
इसी बात की थी । वैसे वे सभी इस आयोजन के लिए लंबी
कष्ट साध्य पद यात्राएँ करते हुए आने पर भी बहुत प्रसन्न
थे । मार्ग में उन्हें अनेक स्थानों पर ठहरने-जनसंपर्क साधने-
समस्याओं के समाधान करने एवं धर्मचेतना का वातावरण
बनाने जैसे अनेक पुण्य-परमार्थों का लाभ भी तो मिला था ।
इसका श्रेय इस आयोजन की व्यवस्था करने वालों को ही
परम संतुष्ट होकर वे दे रहे थे । वापस लौटते हुए दूसरे मार्ग
से जाने और अन्यान्य क्षेत्रों में धर्म श्रद्धा उत्पन्न करने वाले
कार्यक्रमों की योजनाएँ उनके मस्तिष्क में उठ रही थीं । जो
उनकी कर्मठता के लिए कसौटी के पत्थर के समान व लोक
हितकारी थीं । नियत समय पर पिछले दिनों की भाँति ही इस
दिन का आयोजन भी शुरू हुआ । प्रश्नों की शृङ्खला का आज
अंतिम सोपान था । जिज्ञासुओं में वरिष्ठ जरत्कारू ने धर्म
धारणा के अंतिम सुंदर युग्म पर प्रकाश डालने का अनुरोध
करते हुए सत्राध्यक्ष से कहा ॥ १-१३ ॥

जरत्कारुरुवाच

समन्वयः कथं देव ! परार्थसहकारयोः ।

उभयोरैक्यतस्तत्तथ्यमेकं कस्मात्प्रजायते ॥ १४ ॥

अस्मान् बोधयितुं सर्व रहस्यमिदमुत्तमम् ।

अनुग्रहो विधातव्यो भवद्भिः करुणापरैः ॥ १५ ॥

टीका—जरत्कारू ने कहा हे देव सहकार और परमार्थ
का समन्वय कैसे होता है ? दोनों के मिलने से एक तथ्य कैसे
बनता है ? हे दयानिधे इस रहस्य को समझाने का अनुग्रह
करें ॥ १४-१५ ॥

आश्वलायन उवाच

युग्मे पञ्चमके बद्धाविमौ द्वौ तु परस्परम् ।

सहकारपरार्थाख्यावुदारत्वाभिबोधकौ ॥ १६ ॥

जायते व्यापकक्षेत्रे यदाऽऽत्मीयत्वविस्तरः ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु भावनोदेति तत्र च ॥ १७ ॥

उदेत्युदारविश्वासो वसुधैव कुटुंबकम् ।

इतिरूपे सहास्तित्वं सहभुक्तिरुपैत्यलम् ॥ १८ ॥

२.४२ प्रज्ञोपनिषद्

टीका—आश्वलायन जी बोले पंचम युग में सहकार एवं परमार्थ जुड़े हुए हैं, जो उदारता के बोधक हैं। आत्मीयता का विस्तार जब व्यापक क्षेत्र में होता है, आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना जगती है और वसुधैव कुटुंबकम् का उदार विश्वास विकसित होता है, तभी मिल-जुलकर रहना और मिल-बाँटकर खाने का व्यवहार चरितार्थ होता है ॥ १६-१८ ॥

व्याख्या—धर्म के शाश्वत स्वरूप को बनाने वाले विभिन्न गुणों की चर्चा प्रसंग में यहाँ अंतिम चरण में सहकार एवं परमार्थ के परस्पर संबंधित युग की चर्चा ऋषिवर कर रहे हैं। इनका जीवन में समावेश होने पर सब ओर अपना ही स्वरूप परिलक्षित होने लगता है। जब प्राणी मात्र में अपना ही आपा दृष्टिगोचर होने लगे, तो व्यवहार में उदार परमार्थ परायणता एवं सहयोग-सहकार की भावनाएँ विकसित होने लगती हैं। सारा विश्व एक कुटुंब के रूप में विकसित होने की पारिवारिकता समष्टिगत एकता की भाव-संवेदना विकसित होना इसकी चरम स्थिति है। महामानवों का कोई न अपना होता है, न पराया। जैसे उनके लिए अन्य परिजन, मित्र, बंधु होते हैं, वैसे ही सभी प्राणी मात्र होते हैं। इसी कारण वे समष्टिगत हित की बात सोचते हैं, मात्र अपने परिवार की सुख-सुविधाओं स्वर्ग प्राप्ति, मोक्ष की संकीर्ण मान्यता मन में नहीं लाते।

स्वामी रामतीर्थ वसुधैव कुटुंबकम् की व्याख्या करते हुए कहते थे हाथ का कमाल इसी में है कि वह अपना हित समस्त शरीर के हित में जुड़ा हुआ रखे। किसी भी अंग को अभाव या कष्ट हो, तो उसके निराकरण का उपयोग करे। यदि हाथ यह कर्तव्य धर्म छोड़ दे और कलाई तक ही अपने को सीमित कर ले, तो वह स्वयं भी नष्ट होगा और सारे शरीर को नष्ट करेगा।

संपूर्ण जगत एक शरीर है, व्यक्ति उसका एक छोटा अवयव। अवयव शरीर के साथ जुड़ा रहे, समाज के सुख, शांति और प्रगति का प्रयास करे, इसी में उसका हित साधन है। दूसरों की उपेक्षा करके संकीर्ण स्वार्थपरता में निरत व्यक्ति स्वयं मरते और समूचे समुदाय को मारते हैं।

यह सहकार-सामंजस्य परंपरा लड़खड़ाने से ही सामाजिक जीवन में विग्रह पनपते और अपराध बढ़ते हैं। देखने में भले ही व्यक्ति अपराध के लिए दंडित हो, पर यह सच है कि उसके लिए सारा समाज उत्तरदाई होता है।

माहात्म्यं सहकारस्य वदंतस्तेब्रुवञ्जनान्।

प्राणी सामाजिको नूनं मानवोऽस्ति न संशयः ॥ १९ ॥

प्रगतिः स्थैर्यमस्यास्ति सहकारसमाश्रिते।

समाजेन कुटुंबेन शासनेनापि संततम् ॥ २० ॥

समूहवादिनीशिक्षा लभ्यते मानवेन तु।

एकाकित्वं कीटकानां कृमीणां प्रकृतिर्मता ॥ २१ ॥

टीका—सहकार की महिमा बताते हुए उन्होंने कहा मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसकी स्थिरता और प्रगति सहकार पर ही निर्भर करती है। परिवार, समाज और शासन के माध्यम से मनुष्य को समूहवादी बनने की शिक्षा मिलती है। एकाकीपन कृमि-कीटकों का स्वभाव है ॥ १९-२१ ॥

व्याख्या—मनुष्य जन्म से लेकर बड़ा होने तक जिस आधार पर विकास करता है, उसके मूल में समाज के हर घटक का सहयोग सहकार है। सभ्यता, सुसंस्कारिता, विवेकशीलता जैसे गुण भी पारिवारिकता के बल पर ही पनपते हैं। एकाकी कोई न जी सकता है, न आगे बढ़ सकता है। वैभव को प्राप्त करने के बाद कोई यह कहे कि यह उनका अकेले का पुरुषार्थ है, तो इसे आत्मप्रवर्चना ही कहा जाएगा।

अल्पं विकसिता ये तु पशवः पक्षिणोऽपि ते।

समूहे निवसन्त्येवं पालयन्त्यनुशासनम् ॥ २२ ॥

वल्मीककीटा यद्येते एताश्च मधुमक्षिकाः।

पिपीलिकाश्च गृह्णन्ति सहकारं भवन्त्यपि ॥ २३ ॥

सुखिनोऽपेक्षयाऽन्येषामुन्नतस्थितिगास्तथा।

तिष्ठेयुर्मानवास्तर्हि कथं निम्नस्थितिस्थिताः ॥ २४ ॥

टीका—थोड़ा सा विकास जिनका हुआ है, वे पशु-पक्षी भी समूह बनाकर रहते हैं और तदनुसार अनुशासन पालते हैं। जब दीमक, चींटी और मधुमक्खी जैसे प्राणी सहकारिता अपनाते और अपेक्षाकृत अधिक सुखी-समुन्नत स्थिति में रहते हैं, तो मनुष्य को ही क्यों पीछे रहना चाहिए? ॥ २३ ॥ २४ ॥

व्याख्या—मनुष्य तो सृष्टि का सिरमौर है। पशुपक्षी तो मूक होते हैं, उपलब्धियाँ भी उनकी गौण हैं, किंतु सहकारिता के अनुशासन में वे भी बँधे रहते एवं सतत विकास करते हैं। उनके उदाहरण मनुष्य के लिए शिक्षा ग्रहण करने योग्य हैं।

मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता का आधार यही तो माना जाता है कि उसमें बुद्धि एवं विवेक का तत्त्व विशेष है। उसमें कर्तव्यपरायणता, परोपकार, प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, सहृदयता तथा संवेदनशीलता के गुण पाए जाते हैं, किंतु इस आधार पर वह सर्वश्रेष्ठ तभी माना जा सकता है, जब सृष्टि के अन्य प्राणियों में इन गुणों का सर्वथा अभाव हो और मनुष्य इन गुणों को पूर्णरूप से क्रियात्मक रूप से प्रतिपादित करे। यदि इन गुणों का अस्तित्व अन्य प्राणियों में भी पाया जाता है और वे इसका प्रतिपादन भी करते हैं, तो फिर मनुष्य को सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानने के अहंकार का क्या अर्थ रह जाता है।

मानवस्य समस्तायाः प्रगतेः सर्वमेव हि।

रहस्यं सहकारस्य भावनायां स्थितं ध्रुवम् ॥ २५ ॥

अस्तव्यस्तस्थितैर्नैव तृणै रञ्जुविनिर्मितिः।

संभवाऽस्ति न निर्मातुं शक्या सम्मार्जनी दृढा ॥ २६ ॥
 शलाकाभिर्नरैरत्र पतिताभिरितस्ततः ।
 इष्टिकाश्चेत्पृथक् स्युस्ताः कथं गृहविनिर्मितिः ॥ २७ ॥
 संभवा मौक्तिकैर्माल्या ग्रथितैरेव जायते ।
 समूह एवं सैन्यानां शत्रून् विजयते ध्रुवम् ॥ २८ ॥
 सहकारस्वभावेन मर्त्यानां सुखदायिनी ।
 कुटुम्बरचना जाता भुवि स्वर्गायिता नृणाम् ॥ २९ ॥
 समाजो निर्मितोऽथापि राष्ट्रसंघटनं वरम् ।
 जातं, संघटनानां च विविधानामिह ध्रुवम् ॥ ३० ॥
 माध्यमेन हि जातानि कार्याण्याशु महान्त्यपि ।
 रामः कृष्णोऽथ बुद्धोऽयुः साफल्यं सहयोगिभिः ॥ ३१ ॥

टीका—मनुष्य की प्रगति का सारा रहस्य उसकी सहकार भावना में सन्निहित है। बिखरे तिनकों से रस्सा नहीं बटा जा सकता। बिखरी सीकों से बुहारी नहीं बनती। ईंटें अलग-अलग रहें, तो भवन कैसे बने? मोतियों के मिलने से ही हार बनता है। सैनिकों का समूह ही शत्रु पर विजय प्राप्त करता है। मनुष्य के सहकार-स्वभाव से ही परिवारों की स्वर्गोपम सुखद-सरंचना हुई है, समाज बना है, राष्ट्रों का गठन हुआ है। विभिन्न संगठनों के माध्यम से ही महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हुए। राम, कृष्ण और बुद्ध ने सहयोगियों की सहायता से ही आश्चर्यजनक सफलता पाई ॥ २५-३१ ॥

टीका—मनुष्य की प्रगति का सारा रहस्य उसकी सहकार भावना में सन्निहित है। बिखरे तिनकों से रस्सा नहीं बटा जा सकता। बिखरी सीकों से बुहारी नहीं बनती। ईंटें अलग-अलग रहें, तो भवन कैसे बने? मोतियों के मिलने से ही हार बनता है। सैनिकों का समूह ही शत्रु पर विजय प्राप्त करता है। मनुष्य के सहकार-स्वभाव से ही परिवारों की स्वर्गोपम सुखद-सरंचना हुई है, समाज बना है, राष्ट्रों का गठन हुआ है। विभिन्न संगठनों के माध्यम से ही महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हुए। राम, कृष्ण और बुद्ध ने सहयोगियों की सहायता से ही आश्चर्यजनक सफलता पाई ॥ २५-३१ ॥

व्याख्या—एकाकी प्रयत्नों से संसार का कोई भी आदमी नहीं बढ़ पाया, क्योंकि सफलता का रहस्य मिल-जुलकर काम करने में है।

सेनासंयुक्तशक्तिः सा कुरुते कार्यमुत्तमम् ।

कुटुम्बसंघटितं नूनं समाजोऽपि तथा च सः ॥ ३२ ॥

बुद्धिं यातोऽथ मर्त्याश्च वियुक्ता यान्ति विग्रहम् ।

वैरं भेदं सहन्ते न प्रातिकूल्यं मनागपि ॥ ३३ ॥

यान्तीवाकालजं मृत्युमतो ज्ञातव्यमेव तु ।

माहात्म्यं संघजोत्थं तु प्राणिमंगलकारकम् ॥ ३४ ॥

टीका—सेना की संयुक्त शक्ति ही काम करती है। संगठित परिवार और समाज फलते-फूलते हैं, जबकि विलगाव

से आक्रांत भेद, फूट, फसाद में लगे हुए तनिक भी प्रतिकूलता सहन नहीं कर पाते और बेमौत मरते हैं। संगठन का महत्त्व समझा जाना चाहिए जो प्राणिमात्र का मंगलकारक है ॥ ३२-३४ ॥

व्याख्या—जब भी कभी पतन होता है, तो उसका मूल कारण संगठन का अभाव माना जाना चाहिए। मनुष्य की संकीर्णता, अलगाववादी प्रकृति ही उसकी प्रगति में बाधक बनती है।

स्वार्थिवर्गः सदा दोषग्रस्ततां याति संततम् ।

तत्प्रभावेण जीर्णश्च विना कालं विनश्यति ॥ ३५ ॥

अतो विचारशीलैश्च वसितव्यं सुसंगतैः ।

भोक्तव्यं च सदा भोज्यं यथायोग्यं विभज्य च ॥ ३६ ॥

दूरदर्शित्वमत्रास्ति गरिमा च नृणां ध्रुवम् ।

कुर्वते सहयोगं ते सहयोगिन उन्नताः ॥ ३७ ॥

वसन्ति मोदमानाश्च तेभ्यः क्षुद्रेभ्यः एव ते ।

प्रसन्नाश्चाधिकं तस्मात्सहयोगो महाबलम् ॥ ३८ ॥

टीका—स्वार्थियों का समुदाय दोष-दुर्गुणों से ग्रसित होता जाता है और उनके दबाव के कारण समय से पूर्व ही दम तोड़ते देखा जाता है। अस्तु सभी विचारशीलों को हिलमिल कर रहना चाहिए। मिल-बाँटकर खाना चाहिए। इसी में दूरदर्शिता एवं गरिमा है। सहयोग करने वाले सहयोग पाते हैं और एकाकीपन की क्षुद्रता अपनाने वालों की तुलना में कहीं अधिक प्रसन्न एवं समुन्नत रहते हैं अतः स्पष्ट है सहयोग में बहुत बड़ी शक्ति है ॥ ३५-३८ ॥

व्याख्या—स्वार्थी बहुधा अत्याचारी होते हैं। धर्म, पंथ, संप्रदाय आदि के नाम पर विश्व में जितने भी अत्याचार, लूटमार, मारकाट या विघटन हुए हैं, अथवा हो रहे हैं, उन सबके पीछे खुले या छद्म रूप में स्वार्थियों की अपनी हित कामना ही निहित रही है। भले ही वे इस कुचक्र रचना में विनष्ट हो गए हों या रहे हों।

स्वार्थाध अत्याचारियों के हाथ में धर्म एक ऐसा कारण साधन है, जिससे जनता में विषमता स्थापित होती चली जाती है। यह मनुष्यों में समता को नहीं रहने देता। इसके द्वारा धनिक, विद्वान, राजनेता, शासकगण अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। श्रमिकों-मजदूरों में इसी के द्वारा गुलामी की आदत कायम रखी जाती है। धर्म के बहाने लोगों को अनहोनी बातों पर चमत्कारों पर विश्वास दिलाकर मनुष्यों के अज्ञान को चिरस्थायी बनाया जाता है। इस तरह छल-छद्म से चालाक और धूर्त लोग अपना काम बनाते हैं, मजदूर, अनपढ़ और अज्ञानी लोग लुटते हैं। बड़े-बड़े मठाधीश, महंत, पोप, पंडे-पुजारी मौलवी मुल्ले आम आदमी के इसी अज्ञान का लाभ उठाकर मौज मजे उड़ाते हैं और लोगों को बराबर लूटा करते हैं।

२.४४ प्रज्ञोपनिषद्

स्वार्थ या विग्रह का विष बहुत ही भयंकर होता है। यह जिस किसी के जीवन में आया, उसको नष्ट करके ही छोड़ता है। जो देता है, वह पाता है। जो रखने का प्रयास करता है, वह अंततः हानि ही उठाता है।

निरमात्सहयोगेन समुदायं तथा व्यधात्।

मिलित्वा शुभकर्माणि दानादानेऽध्यगादपि ॥ ३९ ॥

आदिकालात्क्रमादत्र प्रगतेः पथिसंचलन्।

आगतो वर्तमानां च स्थितिं विकसितां पराम् ॥ ४० ॥

सहकारप्रधानश्च स्वभावोऽत्र विशिष्यते।

नैकाकिनो महामर्त्यान्यवात्सुः कुत्रचिद् भुवि ॥ ४१ ॥

निर्ममुस्ते समूहं तु प्रयासैश्च समूहगैः।

संकल्पाः सुमहांतस्तैः पूरिताः शीघ्रमेव च ॥ ४२ ॥

सत्प्रयोजनहेतोश्च सहकारः स्थिरो दृढः।

प्राप्यते येषु लोकस्य हितं कर्मसु संस्थितम् ॥ ४३ ॥

यथा तथोदयं याति सहयोगस्य शोभना।

लोकश्रद्धा जगत्पीडा - तमिस्रा - चंद्रिका शुभा ॥ ४४ ॥

टीका—इसीलिए मनुष्य ने सहयोगपूर्वक समुदाय गठित किए। मिल-जुलकर काम करना सीखा। आदान-प्रदान का क्रम अपनाया और अनादिकाल से लेकर क्रमशः प्रगति पथ पर चलता हुआ वर्तमान स्थिति तक आ पहुँचा। इसमें उनके सहकार प्रधान स्वभाव का ही चमत्कार है। महामानव एकाकी नहीं रहे। उनमें समूह बनाए और सामूहिक प्रयासों का बल पर बड़े संकल्प शीघ्र पूरे किए हैं। ठोस और स्थाई सहकार सत्प्रयोजनों के लिए ही मिलता है। जिन कार्यों के पीछे लोकहित का जितना समावेश रहता है, उनमें सहयोग देने भी लोकश्रद्धा उतनी ही उमड़ती है, जो संसार की व्यथा रूपी रात्रि में चंद्रिका के उदय के समान सिद्ध होती है ॥ ३९-४४ ॥

व्याख्या—सामूहिकता एक ऐसी शक्ति है, जिससे सारे संसार को जीता जा सकता है। निर्बल वर्ग भी जब अपनों को साथ लेकर खड़ा हो जाता है, तो शक्तिवानों को भी उनके आगे पराजय स्वीकार करनी पड़ती है।

स्वस्मै वर्गविशेषाय स्वार्थबुद्ध्या च यानि तु।

क्रियन्ते तानि कार्याणि मन्यन्ते स्वार्थगानि हि ॥ ४५ ॥

विचारयन्ति येषां स लाभस्ते पुरुषाः स्वयम्।

श्रमं कुर्वन्तु किं तैश्च परेषां हि प्रयोजनम् ॥ ४६ ॥

परं न्यायस्य यत्राऽयमौचित्यस्य तथैव च ।

साहाय्यस्यार्तिजानां च प्रश्नः सन्तिष्ठते पुरः ॥ ४७ ॥

चित्तं तत्र समेषां हि योगदानाय संततम्।

समुत्सहत एवात्र सर्वकल्याणकाम्यया ॥ ४८ ॥

रीतिर्नीतिरिमेऽभूतां महतां भुवि सर्वथा।

सहकारमहत्त्वं तैर्ज्ञातं सर्वं सुखावहम् ॥ ४९ ॥

स्वभावं ते चरित्रं च योग्यं व्यक्तिगतं तथा ।

व्यधुस्तैषां च प्रामाण्ये विश्वसेयुर्जनाः समे ॥ ५० ॥

कार्याणि यानि तैरत्र हस्तगानि कृतानि तु।

अभूवंस्तानि सर्वाणि नूनं लोक - हितान्यलम् ॥ ५१ ॥

टीका—निजी अथवा वर्ग स्वार्थ के लिए जो काम किए जाते हैं, उन्हें लोग स्वार्थ प्रेरित मानते हैं और सोचते हैं, जिनका लाभ है, वे ही श्रम करें, अन्यो को उनसे क्या प्रयोजन? पर जहाँ न्याय का, औचित्य का, पीड़ितों की सहायता का प्रश्न आता है, वहाँ सभी का मन, सभी की कल्याण कामना से उनमें योगदान करने के लिए उमँगता है। महामानवों की रीति-नीति यही रही है। उनमें सभी के लिए सुखकर सहकार का महत्त्व समझा है। व्यक्तिगत स्वभाव और चरित्र को इस योग्य बनाया है कि लोग उनकी प्रामाणिकता पर विश्वास कर सकें। उनमें जिन भी कामों में हाथ डाला, वे सभी ऐसे थे, जिनके साथ लोकहित जुड़ा रहा ॥ ४५-५१ ॥

व्याख्या—मानव परहितकारी सहकारी भावना को विकसित करके ही महामानव बनते हैं। यह एक प्रकार का आत्म निर्माण का प्रामाणिकता अर्जन करने का तप तो है ही, उनकी सेवा-साधना भी है, जो उन्हें इतने ऊँचे पद पर पहुँचाती है। परमार्थ से ही स्वार्थ भी निभता है, व्यक्ति स्वयं भी लाभांविता होता है, इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं।

स्वार्थसिद्धयै दलानां निर्मातारो भवंत्यपि।

दुरात्मानो दुराचारा दुष्टास्ते कूटयोधिनः ॥ ५२ ॥

षड्यंत्राणि बहून्यत्र कर्तुं दुरभिसंधकाः।

पार्श्वगां समितिं चण्डां कुटिलां स्थापयन्त्यपि ॥ ५३ ॥

दुःसहंते तथैतेभ्यः प्रियंते घ्नन्ति चापरान्।

एतादृशानां यत्नानामुददंडानां विधीयते ॥ ५४ ॥

चर्चा यद्यपि सर्वत्र जनैः शुद्धेन चेतसा।

नैताञ्जनाः प्रशंसन्ति न चैभिः सहयुज्जते ॥ ५५ ॥

अत एवंविधान्यत्र साफल्यानि नृणामपि।

सामान्यानां हि दृष्टौ तान्युपेक्षाण्येव सन्ति तु ॥ ५६ ॥

साफल्यानि प्रशंसन्ति तानि नो केचिदत्र तु।

एतादृश्यां दशायां ते गण्यन्ते खलनायकाः ॥ ५७ ॥

सदाचारयुताः सन्ति महामानवतां गताः।

सतां सभां विनिर्मान्ति सम्मिलन्ति च तत्र वा ॥ ५८ ॥

विचारयन्ति यच्चाऽपि कुर्वन्ते यच्चनिश्चितम्।

समाविष्टं भवेल्लोकहितं गहनमद्भुतम् ॥ ५९ ॥

टीका—स्वार्थ सिद्धि के लिए गिरोह बनाने वाले तो अनेकों दुष्ट, दुरात्मा कुचाली और कुचक्री भी होते हैं। वे षड्यंत्र रचने और दुरभिसंधियाँ करने के लिए चांडाल चौकड़ियाँ खड़ी करते रहते हैं, इसके लिए दुःस्साहस भी करते हैं। मारने के साथ-साथ मरते भी हैं। ऐसे उद्दंड प्रयत्नों की चर्चा तो लोग भारी मन से करते हैं, पर उनकी कोई प्रशंसा

नहीं करता, न कोई सच्चे मन से समर्थन करता न कोई सच्चे मन से सहयोग ही देता है। अतएव इस स्तर की मिली हुई सफलताएँ भी सर्वसाधारण की दृष्टि में उपेक्षित ही बनी रहती हैं, उन्हें कोई सराहता नहीं। ऐसी दशा में कर्त्ताओं की खलनायकों में ही गणना होती है। महामानव चरित्रवान होते हैं, सज्जनों का संगठन खड़े करते या उनमें सम्मिलित रहते हैं, जो सोचते और करते हैं, उनमें अद्भुत लोकहित का समावेश रहता है ॥ ५२-५९ ॥

व्याख्या—तात्कालिक आवेश और आतताई से भयभीत होकर आज अक्सर लोगों को दुष्टों का साथ देते देखा जाता है, पर दुष्टता की शक्ति बड़ी कमजोर होती है। शक्ति तो यथार्थ में वही है, जो किसी को ऊँचा उठाए और आगे बढ़ाए।

सत्प्रयोजनहेतोश्च व्यक्तिभ्यस्त्वर्पितानि तु।

योग्येभ्यस्त्वनुदानानि प्रत्यायान्ति प्रयच्छतः ॥ ६० ॥

असंख्यतां गतान्येव प्रियंवादीनि तानि तु।

वपुःप्रायान्ति शस्यानि सहस्रत्वं गतानि च ॥ ६१ ॥

टीका—सत्प्रयोजनों के लिए प्रामाणिक व्यक्ति यों के हाथ में सौंपे गए अनुदान असंख्य गुने होकर देने वाले के पास वापस लौटते हैं। मक्का, बाजरा आदि के बीज उगने पर सहस्रों गुने होकर बोने वाले के पास वापस लौटते हैं ॥ ६०-६१ ॥

टीका—सत्प्रयोजनों के लिए प्रामाणिक व्यक्ति यों के हाथ में सौंपे गए अनुदान असंख्य गुने होकर देने वाले के पास वापस लौटते हैं। मक्का, बाजरा आदि के बीज उगने पर सहस्रों गुने होकर बोने वाले के पास वापस लौटते हैं ॥ ६०-६१ ॥

श्रमस्यापि धनस्याथ बीजानीशस्य तस्य तु।

क्षेत्रे परार्थरूपे च वपन्त्यत्र जनास्तु ये ॥ ६२ ॥

लाभ एव भवेत्तेषां मर्त्यसद्वृत्तिवर्धने।

पाताऽविकासपीडानां वारणे संपदामथ ॥ ६३ ॥

क्षमतायाश्च तस्यास्तु समुत्सर्गः सदा नरैः।

अंशस्य महतः कार्य आत्मा तेन प्रसीदति ॥ ६४ ॥

योऽर्जयेत्केवलं स्वस्मै भुक्ते चाऽपि तु केवलम्।

स्तेनमाहुर्नरं तं तु सदैकांतगतिं ततः ॥ ६५ ॥

टीका—परमार्थी ईश्वर के खेत में अपने श्रम तथा धन का बीज बोते हैं। इस व्यवसाय में लाभ ही लाभ है। मनुष्य को सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के लिए पतन, पीड़ा और पिछड़ापन हटाने के लिए अपनी क्षमता और संपदा का बड़ा भाग उत्सर्ग करना चाहिए इससे आत्मा तृप्त होती है। जो अपने लिए ही कमाता है, आप ही खाता है, उसे चोर कहा गया है, चोर भी एकांतप्रिय होता है ॥ ६२-६५ ॥

व्याख्या—जीवन व्यापार में यदि ईश्वर को अपना साझीदार बना लिया जाए, तो लाभ ही लाभ है। परहित हेतु जिन्होंने जन्म लिया है, ऐसे व्यक्ति अपने श्रमसीकरों एवं संपदा-सामर्थ्य के माध्यम से लोकमानस को ऊँचा उठाने का पुरुषार्थ करते हैं। वे समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य समझते हैं व जानते हैं कि उन्हें जो कुछ भी मिला है, समाज का एक अंग होने के नाते ही मिला है। इसीलिए उनके हर कृत्य में समष्टिगत हित का समावेश रहता है। यह परोपकार उन्हें जो आत्मसंतोष प्रदान करता है, उसकी तुलना दुनिया के किसी वैभव से नहीं कि जा सकती।

वर्षन्ति वारिदा नित्यं निःस्वार्थं सरितोऽपि च।

भूखंडान् प्राणिनस्तप्तान् कुर्वन्ते जलसंपदा ॥ ६६ ॥

वृक्षाः फलन्ति यच्छन्ति मेषा ऊर्णा ददत्यलम्।

भूमिरुत्पादयत्यन्नमेवं यच्छत्स्वपि क्वचित् ॥ ६७ ॥

नानुदानेषु चैतेषां न्यूनता काऽपि जायते।

हस्तेनैकेन योदद्यादीशः प्रतिददात्यलम् ॥ ६८ ॥

तस्मै हस्तेन चान्येन स आदत्ते वरानिव।

अदातारस्तु शुष्यन्ति म्लायन्त्यम्भोऽव पाल्वलम् ॥ ६९ ॥

निर्झरा यद्यपि स्वल्पा वहन्तो विशदाः सदा।

तिष्ठन्त्येते नरैर्भाव्यमुदारैः परमार्थगैः ॥ ७० ॥

टीका—बादल निःस्वार्थ भाव से बरसते हैं। नदियाँ अपनी जल संपदा से भूखंडों और प्राणियों की प्यास बुझाती हैं। वृक्ष फल देते हैं। भेड़ ऊन देती है। भूमि अन्न उपजाती है। इन अनुदानों को निरंतर देते रहने पर भी वरदान की तरह भगवान उन्हें प्रतिदान देता भी रहता है, जिन्हें उसका दूसरा हाथ ग्रहण करता रहता है। जो नहीं देता, वह छोटे पोखरों के जल जैसा सूखता और सड़ता है, जबकि छोटे निर्झर भी सदा बहते और स्वच्छ रहते हैं। अतः मनुष्य को उदार व परमार्थ-परायण होना चाहिए ॥ ६६-७० ॥

व्याख्या—मनुष्य को प्रकृति से यह सीख लेना चाहिए कि सदैव देने वाला बदले में पाता है। जड़-निर्जीव समझे जाने वाले पदार्थ, प्रकृति के घटक एवं जीव-जंतु भी दैनंदिन जीवन में देकर के लेने के सिद्धांत को अपनाने हैं, तो फिर मनुष्य ही क्यों ऐसा बरताव करता है, जिससे वह एकाकी, संकीर्ण, स्वार्थी बनता चला जाता है।

जलचक्रे शरीरस्य चक्रेऽथे प्रकृतेरपि।

आदानस्य प्रदानस्य पारंपर्यं तु विद्यते ॥ ७१ ॥

दान योऽवरुणइन्द्र्यत्र नैति संपन्नतां क्वचित्।

विपरीततया नश्येत् ग्लायति प्रतिवासरम् ॥ ७२ ॥

संकीर्णत्वं च भीरुत्वं कृपणत्वमथापि च।

सृष्टिव्यवस्थितेरस्ति पूर्णतस्त्ववहेलनम् ॥ ७३ ॥

स्वीकृत्येमानि लाभस्य ये चाशां कुर्वन्ते नराः।

२.४६ प्रज्ञोपनिषद्

अदूरदर्शिर्नो हानिं यान्ति शोचन्ति चान्ततः ॥ ७४ ॥

टीका—शरीर चक्र, जलचक्र और प्रकृतिचक्र में आदान-प्रदान की परंपरा है, जो देना बंद करता है, वह संपन्न तो बनता नहीं, उलटे सड़ता और नष्ट होता देखा जाता है। संकीर्णता, कृपणता और कायरता सृष्टि व्यवस्था की अवहेलना है। इन्हें अपनाकर जो लाभ की बात सोचते हैं, वे अदूरदर्शी बहुत घाटा सहते और अंततः बुरी तरह पछताते हैं ॥ ७१-७४ ॥

व्याख्या—इकॉलोजी विज्ञान के नियम अनुशासनों के अनुसार परस्पर आदान-प्रदान की सृष्टि की सुव्यवस्था का प्राण है। शरीर के जीवकोष निरंतर झड़ते हैं, नए आते रहते हैं। शरीर नित्य आहार ग्रहण करता है एवं विसर्जन करता है। यह संतुलन जरूरी है। प्राण वायु ग्रहण करके मनुष्य विषाक्त वायु छोड़ता है जिन्हें वृक्ष वनस्पति ग्रहण करते व बदले में मनुष्य के लिए प्राण वायु प्रचुर मात्रा में देते हैं। वृक्ष वनस्पतियों को अपने उपकार के बदले में मनुष्य व जीवधारियों से उर्वरक रूपी पोषण मिलता है। यह सारी व्यवस्था अन्योन्याश्रित संबंधों पर टिकी है।

उदारतामीयताऽऽदानात्पराथैकपरायणात् ।

दृष्ट्या व्यापकया चात्मा विकासं याति हर्षितः ॥ ७५ ॥

वैभवं कृपणानां तु दुर्गतिग्रस्ततां व्रजेत्।

यत्र तिष्ठेद् ग्लापयेत्तत्तीक्ष्णाम्ल इव संततम् ॥ ७६ ॥

नश्येद् येन समूलं तदुच्यतां बौद्धिको भ्रमः।

नृणामेष यदिच्छन्ति क्षमतां सञ्चितं निजाम् ॥ ७७ ॥

लाभं तस्य च वाञ्छन्ति दातुमल्पेभ्य एव तु।

पार्श्वस्थेभ्यो मता मूर्खाः कुशला अपि चान्ततः ॥ ७८ ॥

टीका—आत्मा का विकास उदार आत्मीयता, परमार्थ-परायणता और व्यापक दृष्टिकोण अपनाए रहने में है। कृपणों का वैभव दुर्गतिग्रस्त होता है और जहाँ भी वह ठहरता है, तेज अम्ल की तरह उसे गला जलाकर समाप्त कर देता है। इसे मतिभ्रम ही कहना चाहिए कि लोग अपनी क्षमता को संचित करके रखना चाहते हैं और उसका लाभ कुछ थोड़े से ही समीपवर्ती लोगों को देना चाहते हैं। इस नीति के अपनाने में चतुरता अनुभव करने वाले लोग अंततः मूर्खों के समूह में गिने जाते हैं ॥ ७५-७८ ॥

व्याख्या—कृपण बुद्धि के संकीर्ण मानस वाले व्यक्ति इहलोक एवं परलोक दोनों में ही अपयश पाते हैं। व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी उदार परमार्थ परायणता, सहकारिता एवं समष्टिगत पारिवारिकता की भावना के आधार पर होता है। ऐसे व्यक्तियों की इस संसार में कमी नहीं है, जिन्होंने एषणा में लिप्त होकर शांत मनःस्थिति में ही सारी जिंदगी काट दी एवं अंत में हाथ धुनते-पछताते कूच कर गए।

उदारमानसैर्लोकैर्बहु विश्वाय चाऽर्पितम्।

दानमेकं समर्प्यासावनुदानानि विंशतिम् ॥ ७९ ॥

अधिगंतुमभूदर्थं नात्मसंतोष आप्यते।

लोकमानं तथा दैवोऽनुग्रहो मानवैः समैः ॥ ८० ॥

उदारमानसाः सन्ति ये मतास्तेऽधिकारिणः।

दैवानामनुदानानामुदारा ये नराः स्वयम् ॥ ८१ ॥

तेषु वर्षति चौदार्यं विश्वस्यापि नरेष्वलम्।

कृपणेषु समाजस्य प्रभोः कोपश्च वर्षति ॥ ८२ ॥

पापकृत्यमिदं प्राहुः संसारक्रमपद्धतौ।

व्यतिरेकसमुत्पादितया दुर्गतिकं नृणाम् ॥ ८३ ॥

टीका—उदारमना लोगों ने विश्व वसुधा को बहुत कुछ दिया है। जिसने जितना दिया है, वह उसी अनुपात में एक दान के बदले बीस अनुदान अर्जित करने में सफल हुआ है। आत्मसंतोष, लोकसम्मान और दैवी अनुग्रह हर किसी को नहीं मिलते। इन दैवी अनुदानों के अधिकारी मात्र उदारमना ही होते हैं। जो स्वयं उदार हैं, उसी पर संसार की उदारता बरसती है। कृपणता अपनाने से समाज भी रुष्ट रहता है। और भगवान का कोप भी बरसता है। यह संसार क्रम में व्यतिरेक उत्पन्न करने के कारण तथा मनुष्यों की दुर्गति करने वाला होने से पापकृत्य माना गया है ॥ ७९-८३ ॥

व्याख्या—दैवी अनुदान अनायास ही नहीं मिलते। जो परमार्थ में स्वयं को नियोजित करते हैं, जिनकी दृष्टि उदार होती है, दूसरों के प्रति जिनके मन में करुणा होती है, उन्हें परमपिता अजस्र अनुदानों से लाद देते हैं।

मूल्यं धर्मधृतेरात्मप्रगतेश्चैवमेव हि।

निश्चीयते नरेणात्मजीवने कियती च सा ॥ ८४ ॥

गृहीतोदारता चाथ परार्थाभिरतिस्तथा।

दर्शिता स्वर्गमुक्त्यात्मं फलं तत्र फलेत्तरौ ॥ ८५ ॥

टीका—धर्मधारणा और आत्मिक प्रगति का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाता है कि अपने जीवनक्रम में कितनी उदारता अपनाई और परमार्थ परायणता दर्शाई। स्वर्ग और मुक्ति का पुण्य प्रतिफल इसी परमार्थ परायणता के वृक्ष पर लगता है ॥ ८४-८५ ॥

व्याख्या—धर्मधारणा को प्रतीक और कर्मकांड तक सीमित रखने वाले लोग भगवान को पाने के झूठे भ्रम में रहते हैं। भगवान तो सेवा में उदारता में विद्यमान हैं।

धर्मस्य धारणायाश्च युगैरन्यैः समं समे।

जानन्तु पंचमं युगं महत्त्वमहितं भुवि ॥ ८६ ॥

धर्म आचरणस्यापि विषये विद्यते यतः।

क्रियायां परिणतं ते च कुर्वते मानवास्ततः ॥ ८७ ॥

कथनेनाऽथवा लोके श्रवणेन तु केवलम्।

प्राप्यते ज्ञानमात्रं तु दिशाबोधश्च जायते ॥ ८८ ॥

धर्मचर्चाऽनिवार्याऽतः समैरेव मता परम्।

पर्याप्ता नैव नूनमाचारेण विना भुवि॥८९॥

टीका—धर्मधारणा के अन्य चार युगों की भाँति यह पाँचवां युग भी अतीव महत्त्वपूर्ण है। धर्म आचरण का विषय है। उसे कर्म में परिणत किया जाता है। कथन-श्रवण से तो जानकारी प्राप्त होती और दिशा मात्र मिलती है। अतएव धर्मचर्चा को आवश्यक तो समझा गया है, पर उसे आचरण में लाए बिना पर्याप्त नहीं माना गया ॥ ८६-८९ ॥

व्याख्या—धर्म वस्तुतः पढ़ने भर की वस्तु नहीं, वह तो महानता का आचरण है। उसे अपनाते से ही धर्म धारणा परिपक्व होती है और सिद्धि प्राप्त होती है।

सत्रे समाप्ते सर्वेऽपि जनास्ते तु परस्परम्।

आलिलिङ्गुर्गृहीत्वा च गले रोमांचिताः समे॥ ९०॥

सत्राध्यक्षं प्रणेमुस्ते यो ववर्षामृतं वचः।

आगतेभ्यश्च धर्मस्य धारणाया महत्त्वगम्॥९१॥

तत्त्वज्ञानं सगाम्भीर्यं बोधयामास यत्नतः।

सर्वेर्गन्तुं द्वितीयेऽह्नि निजस्थानानि निश्चितम्॥९२॥

निजेष्वाचरणेष्वेव स्वरूपं शोभनं समे।

धर्मस्य धारणायास्ते निरचिन्वन् समाहितुम्॥९३॥

वातावृतौ सदुत्साहभरितायां तपोवने ।

सत्रं समाप्तं तद्विव्यं जयघोषपुरस्सरम्॥९४॥

भूयोऽपि चेदृशं दिव्यं भवेदायोजनं तथा।

तत्र सम्मिलिताः स्याम वाञ्छा चेतसि सोद्गता॥ ९५॥

टीका—सत्र समापन पर सभी उपस्थित जन गले मिले एवं हर्ष से गद्गद हो गए। सत्राध्यक्ष को नमन अभिनंदन किया, जिनने ऐसी अमृत वर्षा की और आगंतुकों को धर्म-धारणा के तत्त्वज्ञान को गंभीरतापूर्वक समझाने का सफल प्रयत्न किया। कल सभी को अपने-अपने स्थानों को जाना था। सबने अपनी-अपनी गतिविधियों में धर्मधारणा के इस स्वरूप को और भी अच्छी तरह समाविष्ट करने का निश्चय किया। अत्यंत उत्साह के वातावरण में जयघोष के साथ तपोवन में आयोजित वह सत्र समाप्त हुआ। दूसरी बार फिर ऐसे ही आयोजन के होने और उसमें सम्मिलित होने की आकांक्षा सभी के मन में उठ रही थी ॥ ९०-९४ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री आश्वलायन-जरत्कारु ऋषि संवादे सहकारः-परमार्थ इति

प्रकरणो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥